

जीवन और मृत्यु

जे. कृष्णामूर्ति

जीवन और मृत्यु

जे. कृष्णमूर्ति



अनुवादक
अचलेश चन्द्र शर्मा
प्रथम संस्करण : 2009

ISBN : 978-81-7028-816-9
Jeewan Aur Mrityu
Hindi Translation of 'Living And Dying' by J. Krishnamurti
Translated by : Achalesh Chandra Sharma

For the original English Text
© Krishnamurti Foundation Trust Ltd. Brockwood Park,
Bramdean Hampshire S024 OLQ England
&

© Krishnamurti Foundation of America,
P.O. Box No. 1560 Ojai, California 93024 U.S.A.

For the Hindi Translation
© Krishnamurti Foundation India
Vasanta Vihar, 124-126,
Greenways Road. Chennai-600 028

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006
Website : www.rajpalpublishing.com
e-mail : mail@rajpalpublishing.com

“मृत्यु का घटित होना अपने आप में कितनी अद्भुत बात है—बिल्कुल जीवन की ही तरह अद्भुत। जीवन से कुछ भी बाहर नहीं है। दुख, पीड़ा, यंत्रणा, आनंद, बेतुकी धारणाएं, स्वामित्वभाव, डाह, प्रेम, अकेलेपन के संताप का दर्द—सभी कुछ तो जीवन में समाया है। और मृत्यु को समझने के लिये हमें जीवन को इसकी समग्रता में समझना होगा, इसके किसी एक अंश को जी लेने से बात नहीं बनेगी—जैसा करने के हममें से अधिकतर लोग आदी हैं। और हां, जीवन की गहराई के स्पर्श में ही मृत्यु की समझ निहित है क्योंकि ये दोनों अलग नहीं हैं।”

प्राक्कथन

जिड्डू कृष्णमूर्ति का जन्म 1895 में भारत में हुआ था। 13 वर्ष की आयु में ही इन्हें थियोसोफिकल सोसायटी द्वारा अंगीकार कर लिया गया था जिसने इन्हें उस विश्वगुरु का वाहक होना मान लिया था जिसके अवतरण का वह प्रचार करती रही थी। कृष्णमूर्ति को शीघ्र ही एक सशक्त, अडिग और वर्ग-श्रेणी के दायरे से परे बेमिसाल शिक्षक के रूप में उभरना था जिसकी वार्ताएं और लेख किसी भी धर्म विशेष से संबद्ध न होकर, पूर्व या पश्चिम के न होकर, पूरे विश्व के लिये हों। 1929 में इस मसीही छवि को दृढ़तापूर्वक तोड़ते हुए अपने चारों ओर बनाये गये विशाल और धनसंपन्न संगठन को उन्होंने बड़े ही नाटकीय ढंग से भंग कर दिया और सत्य को एक ऐसी 'लीक रहित भूमि' घोषित कर दिया जिस तक किसी गढ़े गये धर्म, दर्शन अथवा पंथ द्वारा नहीं पहुंचा जा सकता।

इसके बाद जीवन पर कृष्णमूर्ति गुरु की पदवी को आग्रहपूर्वक अस्वीकार करते रहे जिसे लोग उन पर किसी न किसी तरह से थोपने का प्रयास किया करते थे। विश्व भर से विशाल श्रोता-समूह उन्हें सुनने के लिये खिंचे आते रहे, परंतु उन्होंने कभी कोई सिद्ध होने का दावा नहीं किया, कोई शिष्य नहीं बनाया और सदा ऐसे बोलते रहे जैसे एक व्यक्ति दूसरे से बातचीत किया करता है। उनकी शिक्षा का केंद्रबिंदु यह ठोस यथार्थज्ञान था, सीधा-स्पष्ट बोध था कि केवल वैयक्तिक चेतना में परिवर्तन लाकर ही समाज में आमूल परिवर्तन लाया जा सकता है। अपने आप को देखने-समझने पर और धर्म व राष्ट्र के प्रतिबंधी एवं विभाजनकारी पूर्व-प्रभावों को पहचानने-जानने पर उन्होंने सदा विशेष बल दिया। कृष्णमूर्ति उन्मुक्तता की तत्काल आवश्यकता की ओर तथा "मस्तिष्क के उस विशाल व्योम, जिसमें अकल्पनीय ऊर्जा रहती है" की ओर सदैव संकेत करते रहे। लगता है जैसे यही उनकी अपनी रचनात्मकता का स्रोत था और विशाल विविधता वाले जनमानस को स्पर्श कर पाने वाले गहन प्रभाव की कुंजी भी। नब्बे वर्ष की आयु में हुए अपने देहांत तक कृष्णमूर्ति पूरे विश्व में वार्ताएं करते रहे। उनकी वार्ताओं, संवादों, दैनिकी और पत्रों को साठ से अधिक पुस्तकों में संग्रहीत किया गया है। उनकी शिक्षाओं के उस विशाल संग्रह से किसी न किसी खास विषय को लेकर पुस्तकों की शृंखला का संकलन किया जा रहा है। प्रत्येक पुस्तक किसी एक खास विषय पर प्रकाश डालती है जो हमारे दैनिक जीवन के लिये प्रासंगिक भी होता है और महत्त्वपूर्ण भी।

मैं ऐसे प्रसंग को लेकर चर्चा करना चाहूँगा जिसमें ज़िंदगी की संपूर्णता समाहित है, जो टुकड़ों में नहीं बंटी है, बल्कि जिसमें मानव के संपूर्ण अस्तित्व के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण है। मुझे लगता है कि इसमें अधिक गहरे पैठने के लिये हमें सिद्धांतों, विश्वासों और मतांधता की जकड़न से निजात पानी होगी। अधिकांश लोग मन की ज़मीन को निरंतर जोतते तो रहते हैं परंतु उसमें कभी बीज बोते नहीं लगते। हम विश्लेषण करते रहते हैं, विमर्श करते रहते हैं, विषयों को तार-तार कर देते हैं परंतु जीवन की समूची गतिविधि को नहीं समझते।

यदि हमें जीवन की समूची गतिविधि का व्यापक अर्थ जानना है तो मेरे विचार से हमें तीन चीज़ों को गहराई से समझना होगा। वे हैं समय, दुख और मृत्यु। समय को समझने के लिये, दुख के संपूर्ण अभिप्राय को भलीभांति जान लेने के लिये और मृत्यु के साथ रहने-जीने के लिये प्रेम की निर्मल, उज्ज्वल पृष्ठभूमि चाहिये। प्रेम कोई नज़रिया नहीं है और न ही कोई आदर्श है। आप या तो प्रेम करते हैं या नहीं करते। इसे सिखाया नहीं जा सकता। इसका कोई पाठ भी नहीं होता जो बताये कि प्रेम कैसे किया जाये, और न ही ऐसी कोई पद्धति है जिसका प्रतिदिन अभ्यास करके आप जान पायें कि प्रेम क्या होता है। परंतु मेरे विचार से जब कोई समय के तात्पर्य को, दुख की अद्भुत गहनता को और मृत्यु के साथ आने वाली विशुद्धता को वास्तव में समझ लेता है तब स्वाभाविक रूप से, सरलता से और स्वतः ही प्रेम उजागर हो जाता है। अतः हमें किसी सिद्धांत या कल्पना के आधार पर नहीं बल्कि तथ्य के आधार पर समय के स्वभाव को, दुख के गुणधर्म व उसके ताने-बाने को और मृत्यु नामक इस अद्भुत घटना को देखना-समझना होगा। ये तीनों कोई अलग-अलग मुद्दे नहीं हैं। यदि हम समय को समझ लेते हैं तो हम यह भी समझ जायेंगे कि मृत्यु क्या होती है, और यह भी कि दुख क्या होता है। परंतु जब हम समय को दुख तथा मृत्यु से पृथक कुछ मान बैठते हैं और पृथकतः ही विचार करते हैं तब हमारा देखने-समझने का तौर-तरीका टुकड़ों में बंट जाता है और इसलिये हम प्रेम की अद्भुत सुंदरता और सक्षमता को, इसके व्यापक अर्थ में कभी नहीं समझ पाते।

हम समय के बारे में विचार करने जा रहे हैं—किसी अमूर्त धारणा के रूप में नहीं बल्कि वास्तविक, तथ्यात्मक रूप में—एक कालावधि के रूप में और अस्तित्व की निरंतरता के रूप में। एक समय तो होता है कालक्रमिक—घंटों और दिनों में, जो लाखों, करोड़ों वर्षों तक जाता है। कालक्रम वाले इसी समय की उपज है हमारा मन, जो हमारे तमाम क्रियाकलाप का आधार है। अपने अस्तित्व की निरंतरता के रूप में यह मन समय का ही परिणाम है और इसी निरंतरता के माध्यम से मन को परिपूर्ण और परिष्कृत करना ही प्रगति माना जाता है। इसके अलावा मनोवैज्ञानिक अवधि वाला भी एक समय होता है जिसे विचार ने उपलब्धि के लिए, कुछ पाने के लिए रच लिया है। प्रगति करने, कुछ कर दिखाने, कुछ बन जाने, कोई नतीजा हासिल कर लेने के लिये हम इस समय का प्रयोग करते हैं। अधिकतर लोगों के लिये यह समय किसी सुदूर, ऊंची मंज़िल की ओर चलते हुए पग धरने का आधार होता है—अपनी किसी योग्यता को विकसित करने का, किसी तकनीकी ज्ञान में दक्षता पा लेने का, किसी लक्ष्य अथवा उद्देश्य तक पहुंच जाने का आधार—भले वह प्रशंसनीय हो या न हो। इसलिए हम ऐसा मानने लगे हैं कि इस बात की वास्तविकता जानने के लिये कि सत्य क्या है, ईश्वर क्या है, और मानव की समस्त पीड़ाओं से परे क्या है, समय अनिवार्य है, इसमें समय लगता है।

हममें से अधिकांश समय को वर्तमान पल और भविष्य के किसी पल के बीच का अंतराल मानते हैं और इस समय का प्रयोग चरित्र-निर्माण करने, किसी आदत से छुटकारा पाने, शरीर को परिपुष्ट करने या किसी दृष्टिकोण को विकसित करने के लिये करते हैं। दो हजार वर्षों से ईसाई मानस एक उद्धारकर्ता में, नरक व स्वर्ग में विश्वास करने का आदी हो गया है, और पूरब में इसी प्रकार के विश्वास इससे भी कहीं अधिक लंबे समय से पल रहे हैं। हम ऐसा मानते हैं कि जो कुछ भी हमें करना या समझना है, उसके लिये समय अनिवार्य है। इसलिये समय एक बोझ बन जाता है, यथार्थ को देख पाने में यह आड़े आता है; किसी भी स्थिति के सत्य को तत्काल देख पाने से यह हमें वंचित रखता है क्योंकि हम सोचते हैं कि हमें तो इसके लिए समय लेना ही होगा। हम कहते हैं कल या आगामी एक दो वर्षों में मैं यह बात पूरी तरह समझ लूँगा। जिस क्षण हम इसमें समय को शामिल कर लेते हैं, उसी क्षण से हम अकर्मण्यता को पालने लगते हैं, एक अजीब से आलस्य में जकड़े जाते हैं जो इस बात में रुकावट डालता है कि